जैन दर्शन में मानववादी चिंतन

डॉ. विजयकुमार
पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी...

दर्शन-जगत् में दो परंपराएँ प्राचीनकाल से प्रवाहित होती आ रही हैं-प्रकृतिवादी और निरपेक्षवादी। प्रकृतिवाद जो प्रकृति को ही एकमात्र अंतिम सत्य तथा स्वयंभू मानता है, वहीं निरपेक्षवाद, प्रकृति को एक अंतिम सत्य की बाह्य अभिव्यक्ति मानता है। किन्तु मानववाद, जो मानव की हो ही एकमात्र महत्त्व देता है, को प्रकृतिवाद और निरपेक्षवाद का विरोधी माना जाता है।[१] क्योंकि मानववाद का मुख्य उद्देश्य मानव अनुभूति की व्याख्या करना है। यह मनुष्य को बौद्धिक जगत् के केन्द्र में रखता है तथा विज्ञान को मानव जीवन से संबंधित करता है। एक प्रकृतिवादी की दृष्टि में मानव अधिक से अधिक एक प्राकृतिक वस्तु है। उसका उतना ही महत्त्व हो सकता है जितना कि अन्य प्राकृतिक वस्तुओं का। इसी प्रकार एक निरपेक्षवादी के अनुसार मानव भी अंतिम सत्य की अभिव्यक्ति मात्र है, अपने स्वरूप तथा नियति का निर्माता नहीं। अत: स्वाभाविक है कि मानववाद इन दोनों सिद्धान्तों से भिन्न होगा। बाल्डविन की डिक्शनरी ऑफ फिलॉसफी एण्ड साइकोलोजी में मानववाद को परिभाषित करते हुए कहा गया है -- यह विचार विश्वास अथवा कर्म संबंधी वह पद्धति है जो ईश्वर का परित्याग करके मनुष्य तथा सांसारिक वस्तुओं पर ही केन्द्रित रहती है। पाश्चात्य दार्शनिक कोर्लिस लामोण्ट के अनुसार मानववाद समस्त मानव जाति का विश्व-दर्शन है जो विभिन्न जातियों और संस्कृतियों के व्यक्तियों और उनकी असंख्य संतानों के दार्शनिक एवं नैतिक मार्गदर्शन में समर्थ हो सकता है[२]। ऐनसाइक्लोपीडिया ऑफ ह्यूमिनिटीज (Encyclopaedia of Humanities) में लिखा है कि मानवजीवन की समस्याओं को महत्त्व प्रदान करने की प्रवृत्ति मानववाद है, विश्व में मानव को सर्वोत्तम स्थान देने की प्रवृत्ति मानववाद है[३]। इसी में आगे कहा गया है कि यह वह विचारधारा है जो मानवीय मूल्यों और मानवीय आदर्शों का प्राधान्य स्वीकार करती है, यह वह विचारधारा है जो मानव प्रकृति के उस पक्ष पर बल देती है जो प्रेम, दया, सहयोग और प्रगति में व्यक्त होता है न कि कठोरता, स्वार्थ या आक्रमणशीलता पर[४]। इससे यह स्पष्ट होता है कि मानव की प्रतिष्ठा तथा अधिकारों के लिए सम्मान, व्यक्ति के रूप में उसके मूल्य, लोगों का मंगल-कल्याण उनके चहुँमुखी विकास, मनुष्य के लिए सामाजिक जीवन की परिस्थितियों के निर्माण के लिए चिंता को अभिव्यक्त करने वाले विचारों की समग्रता ही मानववाद का लक्ष्य है। वस्तुतः मानव-स्वतंत्रता ही मानववाद है। जैसा कि जे. मैक्यूरी ने कहा है -- मनुष्य के ऊपर किसी भी उच्चतर सत्ता का अस्तित्व नहीं देखा जाता है, इसलिए मनुष्य आवश्यक रूप से अपने मूल्य की सृष्टि करता है, अपना मापदण्ड एवं लक्ष्य बनाता है, अपने मोक्ष के लिए कार्यक्रम बनाता है। मनुष्य की अपनी शक्ति एवं बुद्धि से परे कुछ भी नहीं है, इसलिए अपनी सहायता के लिए अपने से बाहर नहीं देख सकता, इसी रूप में उसे अपने या समाज के बाहर किसी भी निर्णय के प्रति समर्पण करने की आवश्यकता नहीं है[५]। अत: मानव-स्वतंत्रता मानववाद का आधार है, क्योंकि ईश्वर या ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करने पर मानव सुखी नहीं रह सकता। इतना ही नहीं ईश्वर या ईश्वर में विश्वास मनुष्य के उत्तरदायित्व को भी समाप्त कर देता है। इससे स्पष्ट होता है कि मनुष्य ही अपने मूल्यों का निर्धारण करता है। कैपलेस्टन ने अपनी पुस्तक में लिखा है-- मनुष्य का सर्वप्रथम अस्तित्व देखा जाता है और तभी वह अपने को परिभाषित करता है। वह अपनी स्वतंत्र इच्छाओं द्वारा स्वयं को निर्मित करता है। वह सिर्फ उसी के लिए उत्तरदायी होता है जिसका निर्माण वह स्वयं करता है। मनुष्य मूल्यों का सृष्टा भी है और दृष्टा भी है। निरपेक्ष मूल्यों का कोई अस्तित्व नहीं है। सार्वभौम और आवश्यक नैतिक नियम का भी कोई अस्तित्व नहीं है। मनुष्य अपने मूल्य का चयन स्वयं करता है[६]।

उपर्युक्त मानववादी दार्शनिक परंपरा में जैन-दर्शन का भी नाम आता है। संपूर्ण भारतीय दर्शन में एक जैन दर्शन ही है, जो पूर्ण मानव स्वतंत्रता की बात करता है। यह वह दर्शन है जो मानव कल्याण, मानव की कर्त्तव्य-परायणता, मानव-समता, मानव की महत्ता, उसकी चारित्रिक शुद्धि, सर्वमंगल की भावना,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसक प्रवृत्ति, सुदृढ़ एवं स्वच्छ आर्थिक व्यवस्था, आध्यात्मिक, सामाजिक एवं नैतिक मूल्य, विश्वबंधुत्व की भावना तथा ईश्वर का मानवीयकरण आदि मानववादी चिंतनों को अपने में समेटे हुए है।

मानव की महत्ता

मानव की महत्ता को न केवल जैनागमों में बल्कि वैदिक ग्रन्थों एवं बौद्ध साहित्य में भी स्वीकार किया गया है। महाभारत के शांतिपर्व में कहा गया है-न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित। अर्थात् मनुष्य से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है। धम्मपद में कहा गया है- किच्चे मणुस्स पटिलाभो अर्थात् मनुष्य जन्म दुर्लभ है[८]। गोस्वामी तुलसीदास ने भी मानव की दुर्लभता को बताते हुए कहा है- बड़े भाग मानुस तन पावा। सच, सुकर्मों के परिणामस्वरूप ही यह मानव तन प्राप्त होता है। उत्तराध्ययन सूत्र में मानव की गरिमा को बताते हुए कहा गया है-जब अशुभ कर्मों का विनाश होता है, तब आत्मा शुद्ध, निर्मल और पवित्र होती है और तभी उसे मानवजन्म की प्राप्ति होती है[९]। कितनी ही योनियों में भटकने के बाद यह मानव का शरीर आकार रूप को प्राप्त करता है। तभी तो महावीर ने कहा है-- चिरकाल तक इधर-उधर भटकने के पश्चात् बड़ी कठिनाई से सांसारिक जीवों को मनुष्य का जन्म प्राप्त होता है, सहज नहीं है। दुष्कर्म का फल बड़ा भयंकर होता है। अतएव हे गौतम! क्षणभर के लिए भी प्रमाद मत करो[१०]। इतना ही नहीं जैन-चिंतन में मानव को अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्त आनंदवाला माना गया है। प्रत्येक मनुष्य में देवत्व प्राप्त करने की जन्मजात क्षमता होती है। प्रत्येक वर्ण एवं वर्ग का व्यक्ति इस पूर्णता की प्राप्ति का अधिकारी है।

मानववाद और कर्मवाद

कर्म के विषय में जितनी विस्तृत और सूक्ष्म व्याख्या जैन दर्शन में की गई है, उतनी शायद ही किसी अन्य दर्शन में की गई हो। कर्मवाद का एक सामान्य नियम है कि पूर्व में किए गए कर्मों के फल को भोगना तथा नए कर्मों का उपार्जन करना और इसी पूर्वकृत कर्मों के भोग और नवीन कर्मों के उपार्जन की परम्परा में प्राणी जीवन व्यतीत करता रहता है। किन्तु प्रश्न उठता है कि कर्मवाद में कहीं पर व्यक्ति को अपनी स्वतंत्रता के उपयोग का भी अवसर प्राप्त होता है या मशीन की भाँति पूर्वकृत कर्मों के फल को भोगता हुआ तथा नवीन कर्मों का बंध करता हुआ गतिशील रहता है। ऐसा नहीं कहा जा सकता बल्कि कर्म सिद्धान्त के अंतर्गत इच्छा-स्वातंत्र्य को स्थान दिया गया है। वह इस रूप में कि पूर्वकृत कर्मों का फल किसी न किसी रूप में अवश्य भोगना पड़ता है, किन्तु नए कर्मों का उपार्जन करने में वह किसी सीमा तक स्वतंत्र है। यह सत्य है कि कृतकर्म का भोग किए बिना जीव को मुक्ति नहीं मिल सकती, किन्तु यह अनिवार्य नहीं है कि प्राणी अमुक समय में अमुक कर्म ही उपार्जित करे। वह बाह्य परिस्थिति एवं अपनी आंतरिक शक्ति को ध्यान में रखते हुए नए कर्मों का उपार्जन रोक सकता है। इन बातों से स्पष्ट होता है कि कर्मवाद में इच्छा-स्वातंत्र्य तो है किन्तु सीमित है। क्योंकि कर्मवाद के अनुसार प्राणी अपनी शक्ति एवं बाह्य परिस्थितियों की अवहेलना करके कोई कार्य नहीं कर सकता, जिस प्रकार वह परिस्थितियों का दास है उसी प्रकार उसे अपने पराक्रम की सीमा का भी ध्यान रखना पड़ता है। जैन विद्वान् पद्मनाभ जैनी के अनुसार -जैनधर्म मनुष्य को पूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता देने में हर अन्य धर्म से बढ़कर है। जो कुछ कर्म हम करते हैं और उनके जो फल हैं उनके बीच कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता। एक बार कर लिए जाने पर कृत कर्म हमारे प्रभु बन जाते हैं और उनके फल भोगने ही पड़ते हैं। मेरा स्वातंत्र्य जितना बड़ा है उतना ही बड़ा मेरा दायित्व भी है। मैं स्वेच्छानुसार चल सकता हूँ, किन्तु मेरा चुनाव अन्यथा नहीं हो सकता और उसके परिणामों से मैं बच नहीं सकता[११]। कर्म के आधार पर व्यक्ति देवत्व को प्राप्त करता है। अर्थात् मानव स्वयं अपना भाग्य विधाता है।

जैनकर्मसिद्धान्त की ही भाँति मानववाद भी इच्छास्वातंत्र्य को मानता है। इच्छा-स्वातंत्र्य का यह अभिप्राय नहीं है कि जो मन में आये, वही करें। ऐसे इच्छा-स्वातंत्र्य के लिए न तो मानववाद में कोई स्थान है और न ही जैन-कर्मवाद में। जिस प्रकार जैन-कर्मवाद यह स्वीकार करता है कि मानव स्वयं अपना भाग्य विधाता है उसी प्रकार मानववाद भी मानता है कि व्यक्ति अपने पुरुषार्थ के बल पर बिना किसी दैविक शक्ति के ईश्वरत्व को प्राप्त कर सकता है। साथ ही मानववाद कर्म के औचित्य और अनौचित्य का निर्धारण समाज पर उसके परिणाम के आधार पर करता है। इसी प्रकार जैन-दर्शन व्यवहार दृष्टि से कर्म-परिणाम को और निश्चय-दृष्टि से कर्मप्रेरक को औचित्य और अनौचित्य के निर्णय का आधार मानता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानववाद और अपरिग्रहवाद

मानववाद आर्थिक समानता में विश्वास करता है। मानववादी दृष्टिकोण में आर्थिक क्रियाएँ समस्त मानवीय चिंतन और प्रगति की केन्द्रबिंदु हैं। वस्तुतः मानववाद के अनुसार आर्थिक विषमता ही सामाजिक विषमता का मूल कारण है। इस आर्थिक विषमता को दूर करने के लिए ही जैन-दर्शन ने अपरिग्रह का सिद्धान्त दिया है। परिग्रह, जिसे संग्रहवृत्ति भी कहा जाता है, एक प्रकार की सामाजिक हिंसा है। यह परिग्रहवृत्ति आसक्ति से उत्पन्न होती है। आसक्ति का दूसरा नाम लोभ है। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि लोभ समग्र सद्गुणों का विनाशक है[१२]। तृष्णा के स्वरूप को बताते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है -- यदि सोने और चाँदी के कैलाशपर्वत के समान असंख्य पर्वत भी खड़े कर दिए जाएँ तो भी यह दुष्पूर्ण तृष्णा शांत नहीं हो सकती, क्योंकि धन चाहे कितना भी हो वह सीमित ही है तृष्णा अनन्त और असीम है, अतः सीमित साधनों से इस असीम तृष्णा की पूर्ति नहीं की जा सकती[१३]। अतः जैन -आचारदर्शन के अनुसार व्यक्ति आसक्ति की भावना का त्याग करके अनासक्ति को जीवन में उतारने का प्रयत्न करे। क्योंकि उत्तराध्ययन में स्पष्ट रूप में कहा गया है कि जो समविभाग और समवितरण नहीं करता उसकी मुक्ति संभव नहीं है। ऐसा व्यक्ति पापी है[१४]। अतः व्यक्ति को उतना ही संग्रह करना चाहिए जितने की उसको आवश्यकता है। आवश्यकता से तात्पर्य है - जो जीवन को बनाए रखे और व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास को कुण्ठित न करे। इस प्रकार जैन दर्शन न केवल आवश्यकता का परिसीमन करता है, बल्कि यह भी बताता है कि हमें जीवन की अनिवार्यताओं और तृष्णा के अंतर को जानना एवं समझना चाहिए। तृष्णा अनन्तता है तो अनिवार्यता सीमितता। संग्रह और शोषण की दुष्प्रवृतियों के फलस्वरूप आर्थिक एवं वर्ग -संघर्ष का जन्म होता है। इस वर्ग-संघर्ष को दूर करने का एकमात्र उपाय है- अपरिग्रह का सिद्धान्त। साधक हो या गृहस्थ, उसे अपरिग्रह के मार्ग पर चलने को जैन आचार-दर्शन में आवश्यक माना गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानववाद और जैन-चिंतन दोनों ही मानव मात्र की समानता में विश्वास करते हैं। दोनों के अनुसार संग्रह और वैयक्तिक परिग्रह सामाजिक जीवन के लिए अभिशाप है, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य को जीने का समान अधिकार है।

मानववाद और अनैकान्तिक दृष्टि

सामाजिक विषमता का एक प्रमुख कारण वैचारिक भिन्नता भी है। अनेकान्तवाद इस वैचारिक भिन्नता को दूर करता है। अनेक से तात्पर्य है -- अनेक धर्म (लक्षण), अनेक सीमाएँ, अनेक अपेक्षाएँ, अनेक दृष्टियाँ आदि। जो किसी एक धर्म, एक सीमा, एक अपेक्षा तथा एक दृष्टि को सत्य मानता है और अन्य दृष्टियों को गलत कहता है, वह एकान्तवादी कहलाता है तथा जो अनेक धर्मों या अपेक्षाओं को मान्यता प्रदान करता है, वह अनेकान्तवादी कहलाता है। 'अनन्तधर्मात्मकं वस्तु' अर्थात् वस्तु के अनन्त धर्म होते हैं। उन अनन्त धर्मों में से व्यक्ति अपने इच्छित धर्मों का समय-समय पर कथन करता है। वस्तु के उन अनन्त धर्मों के दो प्रकार होते हैं--गुण और पर्याय। जो धर्म वस्तु के स्वरूप का निर्धारण करते हैं अर्थात् जिनके बिना वस्तु का अस्तित्व कायम नहीं रह सकता, उन्हें गुण कहते हैं, जैसे मनुष्य में मनुष्यत्व सोना में सोनापन। मनुष्य में यदि मनुष्यत्व न हो तो वह और कुछ हो सकता है मनुष्य नहीं। इसी प्रकार यदि सोने में सोनापन न हो तो वह अन्य कोई द्रव्य हो सकता है सोना नहीं। गुण वस्तु में स्थायी रूप से रहता है, जबकि पर्याय बदलते रहते हैं। इस प्रकार जैन-दर्शन स्थायित्व और अस्थायित्व का समन्वय करते हुए कहता है कि वस्तु गुण की दृष्टि से ध्रुव है, स्थायी है तथा पर्याय की दृष्टि से अस्थायी है। भगवतीसूत्र[१५] में कहा गया है- हम, जो अस्ति है उसे अस्ति कहते हैं, जो नास्ति है उसे नास्ति कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ है भी और नहीं भी। अपने निजस्वरूप से है और परस्वरूप से नहीं है। अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता, पिता रूप में सत् है और पररूप की अपेक्षा से पिता, पिता रूप में असत् है। यदि पर पुत्र की अपेक्षा से पिता ही है तो वह सारे संसार का पिता हो जाएगा, जो असंभव है। इसे और भी सरल भाषा में हम इस प्रकार कह सकते हैं- गुड़िया चौराहे पर खड़ी है। एक ओर से छोटा बालक आता है, वह उसे माँ कहता है। दूसरी ओर से एक वृद्ध आता है, वह उसे पुत्री कहता है। इसी प्रकार कोई उसे ताई, कोई मामी तो कोई फूफी कहता है। सभी एक ही व्यक्ति को विभिन्न नामों से संबोधित करते हैं तथा परस्पर संघर्ष करते हैं कि यह माँ ही है, पुत्री ही है, पत्नी ही है आदि। इस संघर्ष का समाधान अनेकान्तवाद करता है। वह कहता है कि यह तुम्हारे लिए माँ है, क्योंकि तुम इसके पुत्र हो अन्य लोगों के लिए यह माँ नहीं है। वृद्ध से कहता है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह पुत्री भी है, आपकी अपेक्षा से सब लोगों की अपेक्षा से नहीं। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक वस्तु के दो पहलू होते हैं। तात्पर्य यह है कि हम जो कुछ भी कहते हैं उसकी सार्थकता एवं सत्यता एक विशेष सन्दर्भ में तथा एक विशेष दृष्टिकोण से ही हो सकती है। केवल अपनी ही बात को सत्य मानकर उस पर अड़े रहना तथा दूसरों की बात को कोई महत्त्व न देना एक मानसिक संकीर्णता है और इस मानसिक संकीर्णता के लिए मानववाद में कोई स्थान नहीं है।

मानववाद और अहिंसावाद

अहिंसा का सामान्य अर्थ होता है हिंसा न करना। आचारांगसूत्र में अहिंसा को परिभाषित करते हुए कहा गया है- सब प्राणी, सब भूत, सब जीव और तत्त्वों को नहीं मारना चाहिए, न अन्य व्यक्ति द्वारा मरवाना चाहिए, न बलात् पकड़ाना चाहिए, न परिताप देना चाहिए, न उन पर प्राणहार उपद्रव करना चाहिए। यह अहिंसा-धर्म ही शुद्ध है[१६]। सूत्रकृतांग में कहा गया है-- ज्ञानी होने का सार यही है कि किसी भी प्राणी की हिंसा न करें। अहिंसामूलक समता ही धर्म का सार है। बस, इतनी बात ध्यान में रखनी चाहिए[१७]। किन्तु अहिंसा की पूर्ण परिभाषा आवश्यकसूत्र में प्राप्त होती है। उसमें कहा गया है कि किसी भी जीव की तीन योग और तीन करण से हिंसा नहीं करनी चाहिए, यही अहिंसा है[१८]। मन, वचन और कर्म तीन योग कहलाते हैं तथा करना, करवाना और अनुमोदन करना तीन करण कहलाते हैं। इस तरह नौ प्रकार से हिंसा नहीं करना ही अहिंसा है। अहिंसा के दो रूप होते हैं-निषेधात्मक और विधेयात्मक। इन्हें निवृत्ति और प्रवृत्ति भी कहा जाता है। दया, दान आदि अहिंसा के प्रवृत्यात्मक रूप है। यहाँ अहिंसा की विस्तृत व्याख्या न करके इतना कहना आवश्यक है कि जैन परंपरा में हर गतिशील वस्तु, चाहे वह जल, वायु, ग्रह, नक्षत्र ही क्यों न हो या पत्थर, वृक्ष जैसी गतिशून्य वस्तु ही क्यों न हो, उसमें भी जीवन शक्ति को स्वीकार किया गया है। यहाँ पर शंका उपस्थित हो सकती है कि जैन - दर्शन पूर्ण जीव-दयावाद या पूर्ण अहिंसा में विश्वास करता है, फिर वह मानववादी कैसे हो सकता है? यह सच है कि जैन दर्शन पूर्ण अहिंसा में विश्वास करता है और इस दृष्टि से वह यहाँ मानवतावादी (Humanitarianistic) हो जाता है, लेकिन मात्र इस आधार पर जैन-दर्शन का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है, क्योंकि कई सन्दर्भों में तो वह मानववाद से भी आगे है। यद्यपि जैन-धर्म अहिंसा के निषेधात्मक रूप पर ही विशेष बल देता है। पूर्वकाल में जैनाचार्यों ने अहिंसा के निषेधात्मक पक्ष को ही प्रस्तुत किया है और आज भी श्वेताम्बर तेरापंथी जैन समाज अहिंसा के निषेधात्मक पक्ष को ही मानता है। अहिंसा के विधेयात्मक पक्ष दया, दान आदि में उसका विश्वास नहीं है। जो जैन-परंपरा के मानववादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है।

मानववाद और जैन-दर्शन की विश्वदृष्टि

लामोण्ट एक प्रजातांत्रिक मानववादी हैं। उनके अनुसार मानववाद मानवजाति का विश्वदर्शन है। यही एक दर्शन है जो बीसवीं शताब्दी की आत्मा और उसकी आवश्यकताओं के लिए उपयोगी है। यही वह दर्शन है जो मानवजीवन और उसके अस्तित्व का सामान्यीकरण है जो प्राय: सभी देशों और जातियों को समष्टिपूर्ण दृष्टिकोण प्रदान कर सकता है। जैन-धर्मदर्शन भी लोकमंगल की धारणा को लेकर ही आगे बढ़ता है। अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह का सिद्धान्त उसकी विश्वदृष्टि ही तो है। अहिंसा की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए प्रश्नव्याकरणसूत्र में कहा गया है -- यह अहिंसा भयभीतों के लिए शरण के समान है, पक्षियों के लिए आकाशगमन के समान प्यासों को पानी के समान, भूखों को भोजन के समान, समुद्र में जहाज के समान, रोगियों के लिए औषधि के समान और अटवी में सहायक के समान है[१९]। तीर्थंकर-नमस्कार सूत्र में लोकनाथ, लोक-हितकर, लोकप्रदीप, अभयदाता आदि विशेषण तीर्थंकर के लिए प्रयुक्त हुए हैं, जो जैन-दर्शन की विश्वदृष्टि को प्रस्तुत करते हैं[२०]। विश्व -कल्याण की भावना के अनुकूल प्रवृत्ति करने के कारण ही तो तीर्थंकर को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। जैनाचार्यों ने सदा ही आत्महित की अपेक्षा लोक कल्याण को महत्त्व दिया है। यह भावना आचार्य समन्तभद्र की इस उक्ति से स्पष्ट होती है -- हे भगवन्, आपकी यह संघव्यवस्था सभी प्राणियों के दु:खों का अंत करने वाली और सबका कल्याण करने वाली है[२१]। संघधर्म, राष्ट्रधर्म, नगरधर्म, ग्रामधर्म, कुलधर्म आदि का स्थानांगसूत्र[२२] में उल्लेख होना यह प्रमाणित करता है कि जैन-धर्मदर्शन, लोकहित तथा लोकल्याण की भावना से ओतप्रोत है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानववाद और जैन-दर्शन का समतावादी दृष्टिकोण

मानववाद और जैन-दर्शन दोनों ही समतावाद में विश्वास करते हैं। दोनों की मान्यता है कि समाज में विभिन्न वर्ग और विचारधारा के लोग रहते हैं, लेकिन इसका मतलब यह तो नहीं है कि मानव, मानव से अलग है। दोनों ही मनुष्य हैं, दोनों में मनुष्यता का वास है। व्यक्ति न तो जन्म से और न ही जाति से ऊँचा-नीचा है,बल्कि सब कर्म के आधार पर होते हैं। कर्म के द्वारा ही वह उच्च पद को प्राप्त करता है और कर्म के द्वारा ही पतन की ओर अग्रसर होता है। जैन-परंपरा में इस तरह के कई उदाहरण मिलते हैं। जैन मुनि हरिकेशबल जन्म से चाण्डाल कुल के थे, जिसके कारण उन्हें चारों ओर से भर्त्सना और घृणा के सिवा कुछ न मिला। वे जहाँ भी गए, वहाँ उन्हें अपमान रूप विष का प्याला ही मिला, लेकिन जब उन्होंने जीवन की पवित्रता का सही मार्ग अपना लिया तो वही वन्दनीय और पूजनीय हो गए। भगवान महावीर ने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कहा है--

कम्मुणा बंमणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइस्सो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा।।[२३]

अर्थात् कर्म से ही व्यक्ति ब्राह्मण होता है। कर्म से ही क्षत्रिय। कर्म से ही वैश्य और शूद्र होता है। अतः श्रेष्ठता और पवित्रता का आधार जाति नहीं बल्कि मनुष्य का अपना कर्म है। मुनि चौथमलजी के मतानुसार एक व्यक्ति दुःशील अज्ञानी और प्रकृति से तमोगुणी होने पर भी अमुक वर्ण वाले के घर में जन्म लेने के कारण समाज में पूज्य आदरणीय, प्रतिष्ठित और ऊँचा समझा जाए, और दूसरा व्यक्ति सुशील, ज्ञानी और सतोगुणी होने पर भी केवल अमुक कुल में जन्म लेने के कारण नीच और तिरस्करणीय माना जाए, यह व्यवस्था समाजघातक है। जैन विचारणा में इस विषमता के लिए कोई स्थान नहीं है। वस्तुतः सभी व्यक्ति जन्मतः समान हैं। उनमें धनी अथवा निर्धन, उच्च अथवा निम्न का कोई भेद नहीं है। आचारांगसूत्र में स्पष्ट कहा गया है कि साधनामार्ग का उपदेश सभी के लिए समान है। जो उपदेश एक धनवान या उच्चकुल के व्यक्ति के लिए है, वही उपदेश गरीब या निम्न कुलोत्पन्न व्यक्ति के लिए है। इस प्रकार जैन-धर्म-दर्शन ने जातिगत आधार पर ऊँचनीच का भेद अस्वीकार कर मानव मात्र की समानता पर बल दिया।

मानववाद और जैन-ईश्वरवाद

ईश्वरवादियों की यह मान्यता है है कि ईश्वर इस जगत् का सृष्टिकर्त्ता, पालनकर्त्ता तथा संहारकर्त्ता है। जीवों को नाना योनियों में उत्पन्न करना, उनकी रक्षा करना और अपने-अपने कर्म के अनुसार फल देना ईश्वर का कार्य है। वही जीवों का भाग्य-विधाता है। वह अपने भक्त की स्तुति या पूजा से प्रसन्न होकर उसके सारे अपराधों को क्षमा कर देता है।

जैन-दर्शन में उपर्युक्त ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया है। जैन-दर्शन का ईश्वर न तो किसी की स्तुति से प्रसन्न होता है और न नाराज ही होता है। क्योंकि वह वीतरागी है। जैन-दर्शन न तो ईश्वर के सृष्टिकर्तृत्व में विश्वास करता है और न ही उसके अनादि सिद्धत्व में। और न ही उसके अनुसार ईश्वर एक है। जैन-मान्यता के अनुसार प्राणी स्वयं अपने कर्मों द्वारा सुख-दुःख को प्राप्त करता है तथा बिना किसी दैवी-कृपा के स्वयं अपने प्रयत्न से अपना विकास करके ईश्वर बन सकता है। ईश्वर पद किसी व्यक्ति विशेष के लिए सुरक्षित नहीं है, बल्कि सभी आत्माएँ समान हैं और सब अपना विकास करके सर्वज्ञता और ईश्वरत्व को प्राप्त कर सकते हैं। प्रत्येक आत्मा में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्त वीर्य होता है। अतः गुण की दृष्टि से आत्मा अर्थात् साधारण जीव और ईश्वर में कोई अंतर नहीं होता। अंतर है तो गुणों की प्रसुप्तावस्था का और उनकी विकासावस्था का। जैन-मान्यता के अनुसार ईश्वर के स्वरूप को निर्धारित-करते हुए श्री ज्ञानमुनिजी ने लिखा है -- यह सत्य है कि जैन-दर्शन वैदिक दर्शन की तरह ईश्वर को जगत् का कर्त्ता, भाग्यविधाता, कर्मफलदाता तथा संसार का सर्वेसर्वा नहीं मानता है। जैन-दर्शन का विश्वास है कि ईश्वर सत्यस्वरूप है, ज्ञान स्वरूप है, आनन्दस्वरूप है, वीतराग है, सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है। उसका दृश्य या अदृश्य जगत् के विषय में प्रत्यक्ष या परोक्ष कोई हस्तक्षेप नहीं है। वह जगत् का निर्माता नहीं है, भाग्यविधाता नहीं है, कर्मफल का प्रदाता नहीं है तथा वह अवतार लेकर मनुष्य या किसी अन्य पशु आदि के रूप में संसार में आता भी नहीं है[२४]।

इस प्रकार जैन-दर्शन और मानववाद (Humanism) दोनों ही ईश्वर की सत्ता को स्वीकार न करके मानव अस्तित्व और उसके पुरुषार्थ में विश्वास करते हैं। दोनों ही मानते हैं कि मानव में ईश्वरत्व को प्राप्त करने की क्षमता निहित है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है जैन - दर्शन एक मानववादी दर्शन है। जिस मानववादी दर्शन का सूत्रपात पाश्चात्य जगत् में प्रोटागोरस ने ई.पू. पाँचवीं-छठी शती में मैन इज दि मीजर ऑफ ऑल थिंग्स (Man is the measure of all things) कहकर किया था। वह मानववादी दर्शन हमारी भारतीय परंपरा के जैन-दर्शन में उसके पूर्व से विद्यमान था, जो हमारे लिए गौरव का विषय है।

सन्दर्भ

1. Humanism in Philosophy is opposed to Naturalism and Abosolutism, it disignates the philos phic attitude which regards the, interpratation of human experience of the primary concern of philosophizing, and asserts the adequacy ot human knowledge for the purpose. Encyclopaedia of Ethics & Religion,Vol-VI, P. 830
2. The Philosophy of Humanism, P.8
3. Encyclopaedia of Humanities (Philosophy) P. 97
4. Ibid.
5. God and Secularity, P. 103-104
6. Philosopher's and Philosophies, P. 165-166

७. शांतिपर्व (महाभारत), २९९/२०

८. किच्चे मणुस्स पटिलाभो। धम्मपद, १८२

९. कम्माणं तु पहाणाए, आणुपुव्वी कयाइउ।
जीवो सोहिमणुप्पत्ता आययंति मणुस्सयं।। उत्तराध्यन, ३/७

१०. दुल्लहे खलु माणुसे भवे, चिरकालेण वि सव्वपाणिणं।
गाढा य विवाग कम्मुणो, सयमं गोयम। मापमायए ।। वही १०/४

11. Outlines of Jainism. P 3-4

१२. कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोमो सव्वविणासणो ।।
दशवैकालिक - ८/३८

१३. सुवण्ण रुप्पस्स उ पव्वया भवे सियाहु केलाससमा असंखया
नरस्स लुद्धस्स्नतेहिं किंचिइच्छाउ आगाससमा अणन्तिया
उत्तराध्ययन ९/४८

१४. असंविभागी अचियत्ते। वही १७/११

१५. नो खलु वयं देवाणुप्पिया। अत्थिभावं नत्थि त्ति वयामो, नत्थिभावं अत्थि त्ति वयामो, अम्हे णं देवाणुप्पिया। सव्वं अत्थिभावं अत्थि त्ति वयामो, सव्वं नत्थिभावं नत्थि त्ति वयामो।। भगवतीसूत्र, ७/१०/१

१६. सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता,
न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिधितव्वा,
न परियावेयव्वा, न उद्देवेयव्वा, एस धम्मे सुद्धे। आचारंगसूत्र १/४/१

१७. एवं खलु नाणिरणो सारं जं न हिंसइ किंचण।
अहिंसा समय चेव एतावंतं वियाणिया ।।सूत्रकृतांग १/१/४/१०

१८. करेमि भंते सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए, काएणं न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न समणु जाणामि। तस्स भंते। पडिक्कमामि, निंदामि गरिठामि अप्पाणं वोसिरामि। आवश्यकसूत्र १/१

१९. एसा सा भगवई अहिंसा जा सा भीयाण विव सरणं, पक्खीणं विव गमणं, तिसियाणं विव सलिलं, खुहियाणं विव असणं, समुद्दमज्झे व पोयवहणं, चउप्पयाणं व आसमपयं, दुहट्ठियाणं व ओसहिबलं अइवीमज्झे व सत्थगमणं एतो विसिट्ठतरिया अहिंसा जा सा.। प्रश्नव्याकरण २/१/१०८

२०. नमोत्थुणं अरहंताणं...लोगुत्तमाणं लोकनाहाणं लोगहियाणं लोगपईवाणं लोगपज्जोयगराणं अभयदयाणं...णमो जिणाणं जियभयाणं। पहली किरण, साध्वीश्री राजीमतीजी, पृ. ३०-३१

२१. सर्वोदयदर्शन, आमुख पृ. ६

२२. दसविधे धम्मे पण्णत्ते, तं जहा गामधम्मे पागरधम्मे, रट्ठधम्मे, पासंडधम्मे, कुलधम्मे, गणधम्मे, संघधम्मे, सुयधम्मे, चरित्तधम्मे अत्थिकायधम्मे। स्थानांगसूत्र १०/१३५

२३. उत्तराध्ययन, २५/३३

२४. मरुधरकेसरी अभिनंदनग्रन्थ, जोधपुर १९६८, द्वितीय खण्ड, पृ. ७७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org